

## ‘अक्करमाशी’ में अभिव्यक्त दलित जीवन की त्रासदी का स्वरूप



### राजमुनि

एसोसिएट प्रोफेसर,  
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय  
भाषा विभाग,  
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,  
वाराणसी

### सारांश

किसी व्यक्ति या समुदाय के लिए सबसे पहला काम है कि उसका पेट भरा हुआ होना चाहिए। यदि वह भुखमरी का शिकार होता है तो उसका जीवन स्वतः गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाता है। यहाँ भुखमरी, गरीबी और अशिक्षा ने समाज के बहुसंख्यक समुदाय को पल-पल मरने को मजबूर किया है। धार्मिक जीवन इतना अतार्किक होता है कि इससे व्यक्ति बिना रस्सी के पीढ़ी दर पीढ़ी बंधा ही नहीं रहता है बल्कि मानसिक रूप से कैद हो जाता है, धार्मिक क्रियाकलापों में। दलितों को सदियों से लेकर आज तक भुखमरी, गरीबी एवं अशिक्षा का घूँट पीना पड़ा। उन्हें धार्मिक आधार पर पशु से भी बदतर जीने को मजबूर होना पड़ा। ऐसी भूख जो कुछ भी खाने को मजबूर। इसके बाद धार्मिक अंधविश्वास एवं जादू-टोना ने अमानवीय व्यवहार करना सिखाया। समाज में जातिगत बीमारी इस कदर फैली है कि प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति आसानी से ढूँढ लेती है। दलितों की नशाखोरी और अशिक्षा का लोग सदियों से आज तक नाजायज लाभ उठाते हैं। कुछ भी अत्याचार, अन्याय हो तो सब ईश्वर पर छोड़ देते हैं। मौसमी बीमारियाँ होने पर जादू-टोना से इलाज किया जाता है, झाड़-फूंक की जाती है। इसमें न जाने कितने लोग विकलांग हो जाते हैं बल्कि अनेक लोग मौत के मुँह में समा जाते हैं। धर्म के नाम पर हत्या का जश्न मनाया जाता है। दलित समाज को राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी तरह से शोषित कर रखा है। प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोका गया है। कहा जा सकता है कि दलित समाज को इस ब्राम्हणवादी व्यवस्था ने आँख होते हुए अंधा, कान रहते हुए बहरा, बुद्धि रहते हुए मुख, जुबान रहते हुए गूँगा बना दिया है। चारों ओर अन्याय एवं अत्याचार का बोलबाला है। यहाँ सब अपने है लेकिन न्याय, सम्मान एवं अपना हक मांगना जैसे सबसे बड़ा जुल्म है।

**मुख्य शब्द :** विषपान, पैदायशी, धोती, नाजायज, जूठन, खाठ, भात, सैलाब, टीस, बदन, महार, दहाड़, चानी, मूत, कोसों, कालरा, पोतराज, भिनभिनाना जायज आदि।

### प्रस्तावना

महाराष्ट्र प्रदेश की रणभूमि में संघर्षरत शरण कुमार लिम्बालें की बहुचर्चित आत्मकथा ‘अक्करमाशी’ सन् 2014 में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त देवता-आदमी, दलित-ब्राम्हण (कहानी संग्रह), दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (समीक्षा), नर-वानर, हिन्दूछुआछूत और बहुजन (उपन्यास) आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। लेकिन अक्करमाशी में लेखक ने दलित जीवन की उस त्रासदी को वास्तविक रूप में उजागर किया है जिसे आलोचकों एवं तथाकथित विद्वानों ने कभी समाज के सामने नहीं आने दिया। क्योंकि वे जानते हैं कि यदि जमींदारों एवं सामंतों की पोल खुल जायेगी तो उन्हें जनता कभी माफ नहीं करेगी। इतना ही नहीं उनकी उस मानसिकता का पता भी चल जायेगा कि ये तो आदमी के वेश में जानवर से भी गये गुजरे लोग हैं।

### साहित्यावलोकन

‘अक्करमाशी’ आत्मकथा में दलित जीवन की त्रासदी को विभिन्न समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। अनीता मिश्रा लिखती है कि “लेखक ने अछूत समाज की पीड़ा को बड़ी ही संजीदगी से व्यक्त किया है। लेखक ने निजी जीवन के बहाने समाज के सच को बयां किया है। दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी दो वक्त का खाना न मिलना कितनी त्रासद स्थिति है, इसकी कल्पना करके भी रूह कांप जाती है। इसमें लेखक ने उन स्थितियों को सामने रखा है, जब उसे पग-पग पर अपमान सहना पड़ा, भूख के कारण

E: ISSN No. 2349-9435

जूठन तक खानी पड़ी।<sup>18</sup> अक्करमासी के कुशल अनुवादक डॉ० सूर्यनारायण रणसूचे ने भी इसके विषय में लिखा है कि "इस छोटी सी उम्र में इस युवक ने जो भोगा है, झेला है, वह मात्र उसका नहीं अपितु अस्तित्व की तलाश में भटकने वाले उसके जैसे लाखों-करोड़ों का है। .....श्री शरण के प्रश्न एक व्यक्ति के नहीं अपितु हमारी सम्पूर्ण परम्परा, धर्म, जाति, नैतिक मानदंड अर्थात् व्यवस्था की क्रूरता से जुड़े हुए हैं।<sup>19</sup> डॉ० भालचन्द्र नेभाड़े ने तो यहाँ तक कहा है कि—“दबाए गये मानव समूहों को समाज के केन्द्र में लाने का महत्वपूर्ण कार्य ऐसे ही लेखकों द्वारा सम्पन्न होता है, अतः इनका स्वागत करना चाहिए।”<sup>20</sup> डॉ० सुभाषचन्द्र ने अक्करमासी: समाजशास्त्री अध्ययन में लिखा है कि “धर्म और जाति का हवाला देकर दलितों को सदैव शिक्षा व्यवस्था से सदैव दूर रखा। इतना ही नहीं उन्हें आर्थिक रूप से भी गुलाम बनाये रखा जिससे वे अपनी शिक्षा पूरी नहीं कर पाये। इन्हीं कारणों से वे समाज के शोषक वर्ग के हाथों सदैव सताये गये।”<sup>21</sup>

उक्त समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से 'अक्करमासी' को समझने का प्रयास किया है। सभी ने शिक्षा, धर्म, जातिवाद, भेदभाव की बात स्वीकार की है। लेकिन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आदि स्तरों पर सवाल खड़े करना और उनका उत्तर तलाशना। यह महत्वपूर्ण बिन्दु है जिसे मैंने अपने शोध आलेख के माध्यम से समझने का प्रयास किया है।

#### अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र को लिखने का उद्देश्य है कि भारतीय समाज की सभी विसंगतियों को उजागर करके उन्हें सदैव के लिए समाप्त करना। जिससे एक समतामूलक समाज का निर्माण हो सके। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सम्मान सहित जीवन जी सके। समाज एक शरीर की भाँति होता है यह तभी बेहतर तरीके से काम कर सकता है जब यह पूर्णरूप से निरोगी रहे। यदि यह रोगी है तो उसका निवारण करना अनिवार्य हो जाता है। भारतीय समाज की विसंगतियाँ निम्न प्रकार से अभिव्यक्त की जा सकती हैं—

1. गरीबी, लाचारी और अशिक्षा को दूर करना।
2. समाज में कोई व्यक्ति या समुदाय जूठन एवं सूखा मांस खाने को विवश न हो।
3. धर्म के आधार पर किसी जाति या समुदाय की उपेक्षा न हो।
4. धार्मिक अंधविश्वास को फ़ैलने से रोकना। बीमार व्यक्ति का इलाज डाक्टर या वैद्य करता है देवी-देवता या ईश्वर नहीं कर सकता।
5. धार्मिक अंधविश्वास व्यक्ति को अतार्किक जीवन जीने को विवश करते हैं। इतना ही नहीं वह लोगों को मनोरोगी भी बना देते हैं। जैसा कि दलितों के साथ हो रहा है।
6. समाज की प्रत्येक व्यवस्था में सभी की बराबर भागीदारी सुनिश्चित हो।
7. धार्मिक आधार पर हिंसा का जश्न मनाना पूरी तरह अनुचित है। इस पर कानूनी रोक लगनी चाहिए।

## Periodic Research

8. जातिवादी समाज के स्थान पर समतामूलक जातिविहीन समाज की स्थापना हो सके।
9. कोई जाति या समुदाय किसी का गुलाम न बने क्योंकि जीवन में गुलामी से बड़ी सजा कोई नहीं होती है। सन्त रविदास ने भी यही कहा है—“पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।”
10. भारतीय समाज की उस सच्चाई को उजागर करना जिसमें मानव को पशु से भी बदतर जीना पड़ा और आज भी जी रहा है।

किसी सभ्य समाज की पहचान वहाँ के लोगों के सामाजिक जीवन से होती है। समाज में सभी लोग शिक्षित, खुशहाल एवं सम्पन्न हैं या नहीं। भारतीय समाज में दलितों की जिन्दगी ने सदियों से गरीबी, भुखमरी, लाचारी एवं अशिक्षा का विषय बनाया है। दलितों के विषय में कहा जाता है कि अशिक्षा एवं लाचारी उनकी पैदायशी बीमारी है इसका उपाय वे आजादी से पहले लेकर आज 21वीं सदी तक खोज रहे हैं। लेकिन पूरी तरह से सफल नहीं हुए हैं। जो इस त्रासदी को जीवन में जीता है वहीं समझ सकता है कि गरीबी लाचारी एवं अशिक्षा किस प्रकार लोगों को पागल बना देती है। मौल्या रोज स्कूल जाता है लेकिन भुखमरी के कारण उसका पिता उसे स्कूल से निकालकर काम पर लगा देता है—“मौल्या मेरी ही तरह रोज स्कूल जाता था, परन्तु उसके पिता ने उस स्कूल से निकाल लिया और नौकरी पर लगा दिया। इतनी छोटी उम्र में ही मौल्या नौकरी कर रहा था। रोज दो बार भोजन तथा प्रतिवर्ष सौ रूपये उसका वेतन था।”<sup>1</sup> उस वर्ष मौल्या की माँ के पास पहनने के लिए धोती भी नहीं थी। घर में हमेशा भूखा सोना पड़ता था। इससे साफ जाहिर होता है कि दलितों ने कल्पना लोक में ही विचरण नहीं किया बल्कि सच्चाई के धरातल पर भी जीवन को जीया है। उनके जीवन का दर्द किसी से उधार मांगे का नहीं बल्कि स्वयं उनके जीवन का है।

अभावों एवं भुखमरी की आग में जलते हुए दलितों ने अनेक कलाओं का सृजन किया। इसके बाद भी सामन्तों एवं सुविधा भोगी वर्ग ने कभी उन्हें कलाकार की दृष्टि से देखा ही नहीं। इतना ही नहीं उन्हें आजादी से लेकर आज तक अपनी कला का प्रदर्शन करने का अवसर भी नहीं दिया। खेल जगत में भी जातिगत आधार पर भेदभाव बरकरार है। तभी तो लेखक कहता है कि—“बनियों तथा ब्राह्मणों के लड़के कबड्डी खेल रहे थे। हम अछूत बच्चे उनसे अलग-अलग ही बैठे थे। मौल्या, मारत्या, डंब-या, परश्या, चंदया आदि छूना-पानी का खेल शुरू कर चुके थे। दलितों का खेल अलग, सवर्णों का खेल अलग। दो-दो खेल दो-दो आंघियों की तरह।”<sup>2</sup>

इस सच्चाई को कोई यदि 21 वीं सदी में भी जानने की कोशिश करे तो वह कालेज से लेकर विश्वविद्यालयों में जाकर देख सकता है कि वहाँ डॉ० भीमराव अम्बेडकर छात्रावासों में केवल दलित लड़के एवं अन्य छात्रावासों में सवर्ण लड़के रहते हुए मिल जायेंगे। यह जातिगत भेदभाव नहीं तो और क्या है? डॉ० भीमराव अम्बेडकर छात्रावासों में सवर्ण लड़के क्यों नहीं रह सकते हैं, या कहीं रहते भी होंगे तो अपवाद स्वरूप एक या दो

E: ISSN No. 2349-9435

बिरली ही संस्था होगी। यही है इस देश का समाजवाद, सबका साथ सबका विकास। दलितों को तो पीछे धकेलने का प्रयास आज भी हो रहा है। यही है इनका 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नौटंकी वाला नारा।

दलित समाज की भुखमरी और लाचारी का इतना नाजायज लाभ ब्राम्हणवादी व्यवस्था ने लिया कि उनको जानवरों की भाँति अपनी जूठन खिलाकर सदैव उनका शोषण किया। लेखक स्वयं अपने साथ घटी घटना का जिक्र करते हुए कहता है कि— "सवर्णों की रोटियाँ और सब्जियाँ बच गई थीं। शिक्षकों से बची हुई सारी जूठन इकट्ठी करके हमें देने के लिए कहा। मैं, मारुति, उंब—या व परष्या बचे—खुचे अन्न की उस जूठन को लेकर अपने स्थान पर आने लगे। लड़के— लड़कियाँ मजा लेते हुए आगे निकल गये। पर हम सबके प्राण तो जूठन में ही अटके थे। मारुति उस जूठन को लेकर आगे बढ़ने लगा और हम चीलों की तरह उसके पीछे—पीछे चलने लगे।"<sup>3</sup> यह है, दलित जानवर एवं जूठन का अंतःसम्बन्ध। मरता क्या न करता? वाली कहावत यहीं साकार होती है। जहाँ पेट भरने का संकट हो वहाँ बुरा—भला नहीं दिखाई देता है। नींद, प्रेम एवं भूख के विषय में कहा जाता है कि— नींद न जाने टूटी खाट, प्रेम न जाने जात—कुजात एवं भूख न जाने जूठा भात। यहाँ शिक्षक द्वारा दी गई जूठन दिलाने का अर्थ है कि उस समय की शिक्षा व्यवस्था भी जातिगत बीमारी से ग्रसित थी। शिक्षक द्वारा बच्चों के प्रति अमानवीय व्यवहार संवेदन शून्य समाज का खाका प्रस्तुत करता है।

धार्मिक व्यवस्था इस प्रकार थी कि ईश्वर के मन्दिर में कुत्ता, बिल्ली एवं चूहे चाहे भगवान पर पेशाब कर दें लेकिन दलित उसे छू तक नहीं सकते थे। आजादी से पहले से लेकर आज तक दलित राष्ट्रपति जैसे सर्वोत्तम ऊँचे पदों पर जा सकता है लेकिन किसी बड़े या छोटे मंदिर का पुजारी नहीं बन सकता है। यही वह देश है जहाँ जीते—जागते मानव की उपेक्षा की जाती है उससे घृणा की जाती है और पत्थरों के आगे दोनों कान—पकड़कर अधिकारी, नेता एवं जज सीस झुकाते हैं। अपने माता—पिता की उपेक्षा करके लोग पत्थर के भगवानों के चक्कर काटते हैं। शिक्षा व्यवस्था में दलितों के बच्चों को जूतों की तरफ बैठाया जाता था। इतना ही नहीं अपने गुरु की चप्पलों को छूने का साहस दलित बच्चे कर नहीं सकते हैं। दलितों की जिन्दगी सदैव गमों के सागर में ही गोते लगाती दिखती हैं। यदि कहीं खुश रहने की कोशिश भी करी जाती है तो वह सवर्णों की दुर्गन्धमय सोच के कारण बहुत शीघ्र पानी के बुलबुले की भाँति फूटकर बिखर जाती है। इसके अतिरिक्त दलितों की त्रासदी क्या होगी जहाँ पीने का पानी भी शुद्ध नसीब न हो। लेखक कहता है कि नदी का वह पानी हम पीते थे, जिसमें सवर्ण लोग अपने मैल एवं कपड़े धोते थे। "किसी माँ ने अपने छोटे बच्चे का मैले से भरा कपड़ा शायद धोया था। उसी मैल का सैलाब मेरे नजदीक आ रहा था। उबकियाँ आयीं, पर कहूँ किससे? और जल से पवित्र कौन सी वस्तु है? सवर्णों के घाट से आये गन्दे पानी को हम पचा रहे थे।"<sup>4</sup> जिन लोगों ने इस प्रकार घुटन भरी जिन्दगी जी हो वह कैसे चुप रह सकते हैं?

## Periodic Research

यहाँ कल्पना कैसे ठहरेगी? उसकी कलम कैसे फूल, चांद, तारे एवं सुन्दरी के श्रृंगार में डूबेगी। ऐसे भुक्तभोगी जीवन की त्रासदी को तो केवल भोक्ता ही समझ सकता है। दर्शक नहीं। जहाँ दलित लोग गोबर से निकले अनाज को खाने पर मजबूर हो तो वह सामाजिक व्यवस्था कितनी क्रूर एवं संवेदन शून्य हो सकती है, अनुमान लगाना आसान है। लेखक इसी मानसिक एवं शारीरिक टीस को बयां करते हुए लिखता है कि "गोबर से निकले दाने पीसने के बाद संतामाय उठतीं। कड़ी धूप तथा बंजर धरती पर घूम आयी संतामाय का चेहरा तथा बदन सूखा हुआ होता। भूख को मारने की आदी हो गई हैं वह।"<sup>5</sup> एक माँ की ममता का निर्वाह सिर्फ वहीं औरत कर सकती है जो अपनी भूख को मार दे, खुद गोबर के दाने की रोटी खाये और बच्चों को अच्छे अनाज की रोटी दे। सवर्णों की धार्मिक नीचता ही अच्छा और बुरा देख सकती है। जिसके पेट में आग लगी हो तो उसे फिर अनाज के अलावा कुछ नहीं दिखता है। चाहे वह शव के ऊपर से फेंका हो या गोबर से बीनकर इकट्ठा किया गया हो।

हिन्दू धर्म की सड़ी—गली परम्पराओं ने तो सदियों से समाज को बुद्धिहीन एवं तर्कहीन जीवन जीने पर मजबूर किया है। हिन्दू धर्म में गाय को जहाँ माता का दर्जा देते हैं और विधिवत उसकी पूजा करते हैं वही उसके मर जाने पर महारों (भंगी) से उठवाते हैं और उसकी चमड़ी उतरवाते हैं। सबसे अधिक षरम की बात है कि दलित के मर जाने पर कोई फर्क नहीं पड़ता है लेकिन गाय मर जाय तो पूरा परिवार दहाड़ मार—मार कर रोता है। यह रोना भी कितना नाटकीय है। किसी की माँ मर जाये तो उसे महारों (भंगियों) के हाथों खाल उतरवाने को देता है क्या? नहीं। तो फिर गाय को माता कहने का पाखण्ड क्यों करते हैं लोग?

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुखपूर्वक जीना चाहता है। लेकिन जिंदा रहना विवशता है और भुखमरी का साया हो तो व्यक्ति कितना लाचार हो जाता है। कभी सवर्णों ने सूखा माँस नहीं खाया, कभी भुखमरी से नहीं लड़े। यह तो सिर्फ दलितों के हिस्से की सौगात थी जिसे उन्होंने विरासत में पाया। लेखक अपने जीवन की सच्चाई को व्यक्त करते हुए कहता है कि—"जब मैं सातवीं कक्षा में था, तब मौला जमादार का बछड़ा मर गया था। एकदम ताजा, गोरा था। अछूतों ने बहुत तेजी से उसे साफ किया। कई दिनों तक प्रत्येक घर पर चानियाँ सुखाने को रखे गये थे। (चानी— मृत जानवर का मांस अधिक होने पर उसे छोटे—छोटे बोटियाँ बनाकर उन्हें साफ करके सुखा देते हैं तथा अभावग्रस्त दिनों में उसे खाते हैं।)"<sup>6</sup>

अंधविश्वास और हिन्दू धर्म का तो चोली—दामन का साथ रहा है। इस अतार्किक अंधविश्वास ने सवर्णों को तो रोजी—रोटी दी लेकिन दलितों को तो तन, मन, धन एवं जीवन ही बिना रस्सी के बांध रखा है। सदियों से लोग इससे निकलने का प्रयास कर रहे हैं लेकिन बड़े—बड़े बुद्धिजीवी भी इससे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। भूत—प्रेत एवं जादू—टोना एवं धार्मिक रीति— रिवाजों ने दलित समुदाय की त्रासदी को अपने उत्कर्ष पर पहुँचाया है। यह इतनी प्रबल मानसिक बीमारी बन चुकी है कि इससे पार पाना बहुत मुश्किल है। लेखक ने स्वयं इस अंधविश्वास

E: ISSN No. 2349-9435

को भोगा है। वह अपने जीवन की त्रासदी को बयां करते हुए कहता है कि— “संतामाय बहुत गुस्सा करतीं। कहतीं शिशु को किसी का स्पर्श नहीं होना चाहिए। किसी के भी स्पर्श से उसे भूत बाधा हो सकती है। वह हमें बहुत गालियाँ देती। इन दिनों वह किसी को छूती नहीं थीं। बाहर से आने के बाद झोपड़ी में प्रवेश करने से पूर्व कहती—“पीछे मुड़कर थूको और फिर भीतर आओ। पैरों पर पानी डाले बगैर वह भीतर आने ही नहीं देती। भीतर जाने के बाद शरीर पर गोमूत्र छिड़कती। गोमूत्र लाने का काम मेरा या नागी का होता। हम लोग लोटा लेकर गायों के पीछे दौड़ते। गाय मूतती ही नहीं। लोटा भरता नहीं। मैं परेशान हो जाता। इच्छा होती लोटे में खुद ही मूत कर ले जाऊँ, पर साथ में बहन होती थी। बैल का मूत चलता नहीं था। गोमूत्र इतना पवित्र कि सारी अपवित्रता पवित्रता में बदल जाती। गाय की योनि को स्पर्श करके हम उसे सहलाते और कहते— मूत—मूत तब गाय थोड़ा सा पेषाब करती।”<sup>7</sup>

जातिगत भेदभाव की गन्दी सोच जो सर्वर्ष बनाम दलित में है, वही दलित—दलित में भी ऊँच—नीच की भावना घर कर गई है। इसी का परिणाम है कि दलित समुदाय मिलकर अपना विकास करने में कोसो दूर है। जहाँ जातिगत भेदभाव जन्म लेगा वहाँ व्यक्तिगत व सामाजिक भेदभाव आसानी से पनप जाता है। इतना ही नहीं दलित और पिछड़ों के बीच में नफरत की दीवार खड़ी करने वाला जातिगत द्वेष भाव ही है। पिछड़े सर्वर्षों की गुलामी करने में गर्व महसूस करते हैं लेकिन किसी दलित की मदद करने में नहीं। दलितों पर जन्मजात चोर होने के आरोप भी लगाये जाते हैं। लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि जब घर में रोटी नहीं मिलेगी तो वह बाहर और घर में छीनकर या चुराकर ही खायेगा। जन्मना कोई व्यक्ति चोर, सन्यासी या हत्यारा नहीं होता है। विपरीत परिस्थितियाँ ही व्यक्ति को गलत रास्ता चुनने पर मजबूर करती हैं। लेखक कहता है कि हमें सामाजिक विसंगतियों ने ही चोरी करना सिखाया है। जिसके हम शिकार हुए। मेरी बहन नागी बाजार से खाने की चीजें चुराकर लाती थी— “ नागी व निरमी तो बाजार में चोरी भी करती। खाने की चीजे चुराकर घर ले जाती। हम सब लोग उन चीजों को खा लेते। चोरी नहीं करना चाहिए ऐसा लगता है जरूर, पर पेट में क्या भरे? चोरी करने की हवस थोड़े ही थी, गरीब और दरिद्र लोग भूख से मजबूर होकर चोरी करते हैं। उन्हें पेटभर अन्न मिले तो चोरी क्यों करेंगे? काले व्यवसाय करने वाले नेता बन जाते हैं और भूख से मजबूर होकर गुनहगार!”<sup>8</sup>

नशा किसी भी सम्पन्न समाज को बर्बाद कर देता है। गरीब और अशिक्षित व्यक्ति जाने— अनजाने में इसका आदी हो जाता है। दलितों में नशा की आदत की जननी अशिक्षा एवं गरीबी ही है। इससे परिवार, समाज एवं पीढ़ियाँ बर्बाद हो जाती है। दलितों के सबसे पिछले पायदान पर पहुँचने के मुख्य कारण हैं— दारू, धार्मिक अंधविश्वास, अशिक्षा, भूत—प्रेत एवं जादू—टोना आदि। इन सबका आपस में चेन की तरह एक दूसरे से जुड़ाव है। ये वे मानसिक बीमारियाँ हैं जिनका लोग ईश्वर के माध्यम से समाधान खोजने का प्रयास करते हैं। लेकिन सच तो यह

## Periodic Research

है कि मानव ही अपने उत्थान—पतन के लिए सर्वप्रथम जिम्मेदार होता है। किसी समाज का विकास का रास्ता उस समय अवरूढ़ हो जाता है जब वह सभी समस्याओं का समाधान स्वयं करने की अपेक्षा ईश्वर पर छोड़ देता है। बार—बार मानसिक एवं शारीरिक कष्ट होने पर ईश्वर को ही याद करता है। लिम्बाले कहते हैं कि किस प्रकार हमारा परिवार भी धार्मिक अंधविश्वासों का मनोरोगी था— “दारू पीने के बाद दादा हमेशा संतामाय से झगड़ते। सोते समय संतामाय ‘अंबे, दुर्गे, लक्ष्मी कहती तो दादा बंदेनवाज, हाजी मलंग, अल्ला, बिस्मिल्ला, मौला कहते। कभी—कभी संतामाय के शरीर में देवी आ जाती। वह चिल्लाती। मैं नींद से उठ बैठता।”<sup>9</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि दलित समाज किस प्रकार धार्मिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से जंजीरों में जकड़ा हुआ है। इनसे निकलने का प्रयास वह सदियों से कर रहा है लेकिन आज भी पूर्णरूप से मुक्त नहीं हो पाया है। हाशिए के समाज की नशाखोरी एवं अशिक्षा का लाभ उठाकर जमींदार उनका मनमानी शोषण करते थे। एक ओर उन्हें नशा व चोरी एवं चरित्रहीनता के झूठे आरोप लगाकर प्रताड़ित करते थे वहीं दूसरी ओर उनके हाथ की बनी शराब तो पसंद थी, पर पानी नहीं। उनके घर की औरतें तो अच्छी लगती थीं, पर रोटी नहीं। पुलिस प्रशासन भी दलितों की लाचारी का खूब लाभ उठाते थे। जमींदारों ने अनेक माओं से उनके बच्चे छीन—छीनकर उन्हें गाँव से बाहर कर दिया। इससे बड़ी किसी के जीवन की त्रासदी क्या होगी जब उसके हाथ से उसकी संतान को छीनकर बेघर कर दिया जाय। लेखक कहता है कि इन्होंने सदैव ममत्व को भी अपने पैरों तले रौंदा है— “गाँव ने मसायी के दूध पीते बच्चे को छीन लिया। दो—चार बरस के चंद्रकांत को भी उसने छीन लिया गया। विट्टल काम्बले ने मसामा से तलाक ले लिया। दो छोटे बच्चों को छोड़कर मसामाँ रोती हुई निकली। छोटा लक्ष्मण माँ की ओर हाथ करके रो रहा था। चन्द्रकान्त माँ के साथ जाने की जिद कर रहा था।”<sup>10</sup> सदियों से लेकर आज तक एक सवाल पूरी दुनियाँ के सामने है। जाति, धर्म और इंसानियत में से कौन बड़ा है? इसे पूरा विश्व जानता है लेकिन ऐसी क्या मजबूरी है जो व्यक्ति अपने समाज में जाति एवं धर्म से विरत होकर एक इंसान के रूप में जी नहीं सकता है। संसार का प्रत्येक मानव—मानव की तरह जीना चाहता है लेकिन व्यक्तिगत एवं सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक हित उसे ऐसा करने से बार—बार रोकते हैं। सत्य बोलना अच्छा है लेकिन मुझे न बोलना पड़े दूसरा बोलें, मैं सिर्फ किताबों में पढ़ा करूँ और लोगों को उपदेश दिया करूँ यह है इस समाज के सुविधाभोगी लोगों की नियति।

भारत एक ऐसा देश है जहाँ ऋतुएं बदलती रहती हैं। कभी जाड़ा, कभी गर्मी, कभी बरसात और कभी बसन्त। जब भी कोई एक मौसम आता और दूसरा जाता है तो तापमान में यकायक परिवर्तन से बीमारियाँ होना लाजिमी हैं। लेकिन नहीं यहाँ भी मौसमी बीमारियों को अंधविश्वास एवं भूत—प्रेत से जोड़कर देखा ही नहीं जाता है बल्कि उसका उपचार भी जादू—टोना से किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप कभी—कभी बच्चे या जवान इसी

E: ISSN No. 2349-9435

के चक्कर में पड़कर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। 'प्रतिवर्ष गांव में कॉलरा की बीमारी फैलती। हम उसे मरीआई की बीमारी कहते। कॉलरा में काफी लोग मरते। मरीआई की अवकृपा जिस पर होती, उसके क्रियाकर्म को तैयारी करनी पड़ती। कायरं करके मरीआई को शान्त करना पड़ता। मरीआई की शान्ति के लिए भैंसा काटा जाता। पोतराज नाचता। शाम को मरीआई का रथ खींचा जाता। मरीआई को गाँव के बाहर ले जाकर छोड़ते।'<sup>11</sup> यह है धार्मिक अंधविश्वास का वह सच जिसे कोई नकार नहीं सकता है। यहाँ किस प्रकार धर्म के नाम पर हत्या का जश्न मनाया जाता है। ठीक इसी प्रकार का एक त्यौहार बकरीद भी है जिसमें मुसलमान हत्या का जश्न पूरी दुनियाँ में मनाते हैं। इसका सबसे दुःखद पक्ष यह है कि इसमें अशिक्षित के साथ-साथ शिक्षित एवं बड़े-बड़े अधिकारी एवं मंत्री भी शोक से घामिल होते हैं और इसका समर्थन भी करते हैं।

भुखमरी का सामना तो लगभग हर देश के नागरिकों ने किया होगा कम या अधिक। भारत में हाशिए के समाज की भुखमरी ने तो पशुता की सीमा ही पार कर दी। यहाँ एक व्यक्ति प्रतिदिन हलुआ पूड़ी खाये और दूसरे को रूखी रोटी ही नहीं बल्कि ऐसी खाद्य-अखाद्य वस्तुएं भी खानी पड़ती जिससे सारी मानवता तार-तार हो जाय। पढ़ने और सुनने वाले की रूह काँप उठे। 'एक बार नशे में पत्थर फोड़ने वालों की रोटियों की गठरी में उठा लाया था। वे लोग बंगले के पास पत्थर फोड़ रहे थे। मैंने गठरी उठा ली और चल पड़ा। मिलों की रोटियाँ थी। रोटी पर तले हुए चूहे रखे हुए थे।'<sup>12</sup> यह है दलित जीवन की सच्चाई का जहर जो पीये वहीं जानता है कि नीलकण्ठ कैसे बनता है आदमी? जिसने कभी इस त्रासदी को स्वयं झेला ही नहीं हो तो वह इस सच्चाई पर सिर्फ हंस सकता है और इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। इसलिए लेखक कहता है कि दुनियाँ की प्रत्येक हलचल और सम्बन्ध सभी पेट से जुड़े हैं। पेट न होता तो कुछ भी न होता। फिर तो सारी दुनियाँ रेत का ढेर या बहता पानी।

सौन्दर्य पर इस सारी दुनियाँ में राजा से रंक तक मरते हैं। सौन्दर्य की खातिर लोग क्या-क्या नहीं करते? लेकिन दलितों के सौन्दर्य और गैर दलितों के सौन्दर्य में जमीन-आसमान का अन्तर है। गैर दलितों की स्त्री अपना श्रृंगार करने के लिए विभिन्न प्रकार के इत्र एवं साबुन का इस्तेमाल करती हैं वहीं दलित स्त्री अपना श्रृंगार मरे हुए जानवर की चर्बी से करती है। यही कारण है कि दलित साहित्य का सौन्दर्य सोलह श्रृंगार की प्रशंसा करना नहीं बल्कि उन शब्दों में है जिसकी एक-एक चोट कलेजा चीरकर रख देती है और दलित साहित्यकार प्रमाणित करता है कि वास्तव में सौन्दर्य चमक-दमक में नहीं बल्कि जिन्दगी की सच्चाई में है। किसी महारिन की बदनसीबी को चित्रित करता हुआ लेखक कहता है कि- 'उसे जाना था बाजार। इसीलिए उसने मृत पशु की चर्बी गलाकर लगवायी। महारिन निकली बाजार में मांग भरकर पशु की चर्बी लगाने के कारण सिर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। वह खरीद-फरोख्त कर रही थी। सिर पर

## Periodic Research

मक्खियाँ भिनभिनाने के कारण सारे लोग उसके सिर की ओर देख रहे थे।'<sup>13</sup>

सवर्णों ने इस देश की प्रत्येक व्यवस्था पर इस प्रकार कब्जा जमा रखा है कि उनसे मुक्त कराना बहुत टेढ़ी खीर है। देश की सारी सुख-सुविधाएं एवं मान-सम्मान उन्हीं के हाथ में जिसको चाहे जो दें। दें-दें न भी दें। इन्होंने दलितों की पीढ़ियों को त्रासदी के उस गर्त में डुबो दिया है जहाँ से बाहर आना बहुत मुश्किल है। हर पल मर-मर कर घुट-घुट कर जीने को मजबूर किया है इन्होंने दलित स्त्री एवं दलित पुरुषों को। इनकी बनायी दुर्व्यवस्था का शिकार पूरा देश हो रहा है। सदियों के किये इनके कुकर्मों की सजा आज भी लोग भोग रहे हैं और ये छुट्टे सांड की भांति पूरे समाज का नाजायज दोहन कर रहे हैं। आज सवर्णों ने दलितों को समाज से बाहर का रास्ता दिखा दिया है। या यों कहें कि इनके मानसिक कैदखाने दलितों को आज भी कैद किए हुए हैं। 'रोटी भी सवर्णों के हाथ में थी और बस्ती की इज्जत भी। एक हाथ से उन्हींने इस बस्ती की भूख को मिटाया तो दूसरे हाथ से भोगा। सवर्णों के दोनों हाथों के बीच कसमसाती मसामों को मैं देख नहीं पाता। सीता को अशोक बन से छुड़ाया गया, पर मेरी माँ का छुटकारा कौन करेगा? पटेल की रखैल कहलाते-कहलाते वह पटेल के खेत में क्षण-क्षण रेगते हुए मर जाएगी पर हम बच्चों का क्या होगा? नागी, निरमी, बनी, सुनी, पमी इनके साथ शादी कौन करेगा? मैं तो पुरुष हूँ किसी रखैल के साथ जी लूँगा। पर इन बहनों का क्या होगा? क्या इनका विवाह होगा? मनुष्यों की बस्ती में क्या हमें स्वीकार किया जायेगा? हमारी मौत पर क्या दलित स्त्री इकट्ठी होगी? क्या बहनें ऐसे ही सड़ जायेगी?'<sup>14</sup> इस देश में इज्जत के नाम पर लड़की के नाम पर न जाने कब से औरतें गर्भपात कराती चली आ रही हैं और यह घिनौना खेल लगभग सभी जातियों में आज भी बदस्तूर जारी है। इतना ही नहीं इज्जत आदमी से इतनी मूल्यवान हो जाती है कि दलित लड़का किसी सवर्ण लड़की से यौन सम्बन्ध बनता है तो दोनों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। वहीं दूसरी ओर यदि सवर्ण लड़का यदि दलित लड़की से शादी करता है तो उस लड़की को घर में कोई स्थान नहीं दिया जाता है। सिर्फ रखैल की भांति व्यवहार किया जाता है।

दलितों ने सवर्णों के साथ सदा वफादारी एवं पुण्य का काम किया है जबकि सवर्णों ने दलितों के साथ सदैव धोखा, अत्याचार एवं हर प्रकार से शोषण किया। पाप और पुण्य की परिभाषा लोगों द्वारा बड़ी लम्बी-चौड़ी दी जाती है। जबकि सच्चाई यह है कि किसी की इच्छानुसार किया गया कार्य पुण्य और किसी की इच्छा के विरुद्ध किया गया प्रत्येक कार्य पाप होता है। दलितों एवं सेवकों ने सदैव राजाओं की रानियों की इच्छानुसार उनकी हरेक इच्छापूर्ति की। लेकिन सवर्णों ने सदैव दलित स्त्रियों के साथ उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका शारीरिक शोषण किया। अधिकांशतः दलितों ने जमींदारों की बहन-बेटियों के प्रति कभी नजर उठाकर भी नहीं देखा जब तक उसकी स्वयं की इच्छा न हो। यह है दलितों की ईमानदारी एवं वफादारी। 'मेरे नाना, दादा, परदादा इस कोठी की रक्षा करते रहे हैं। पाटील जब तहसील जाते तो

E: ISSN No. 2349-9435

इस कोठी की रक्षा वे रातभर करते रहते पर इन बेवकूफों के मन में एक बार भी यह विचार नहीं आया कि कोठी में खाट पर सोई पटेल की पत्नी का चेहरा कभी देख लें। इसके बावजूद उन्होंने अपनी बहु-बेटियों को रात के अंधेरे में इन कोठियों के अधीन कर दिया। इन कोठियों के निर्माण में अपनी ही बलि दे दी। उनकी जूठन पर जीने में ही अपनी जिन्दगी को सार्थक मानते रहे।<sup>15</sup>

रात-दिन खून-पसीना बहाने के बाद भी उनकी काल्पनिक दुनियाँ के देवता, पूजा-पाठ, मंदिर एवं पीने के दो घूँट पानी को भी तरसते रहे। इससे अधिक उनके जीवन के दर्द की गहराई और क्या हो सकती है? इस सच्चाई से कोई भी संवेदनशील मानव मुँह नहीं मोड़ सकता है। आज नहीं तो कल इसे स्वीकारना ही पड़ेगा।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर के अथक प्रयास करने के बाद दलितों को आरक्षण इसलिए दिया गया ताकि समाज में समता का भाव आ सके। सभी जाति के लोग समाज के सभी कार्यों में अपनी-अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके। लेकिन आजादी के बाद से ही जैसे ही दलितों की पहली पीढ़ी अभी-अभी निकलकर आगे आई और उसने अपने इतिहास से सबको रूबरू करा दिया तभी से ये सवर्ण आरक्षण को समाप्त करने पर तुले हुए हैं। ये भूल जाते हैं कि आरक्षण नौकरी के लिए नहीं बल्कि समाज में अपने अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए है। सबसे दुःखद पक्ष है कि सन् 1950 से वर्तमान समय (सन् 2017 तक) कभी आरक्षण के पदों को पूर्वरूप से भरा ही नहीं गया। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी प्रशासनिक विभागों एवं न्यायालयों में नियुक्ति प्रक्रिया में सभी सवर्ण ही बैठते रहे। ये भलीभाँति जानते हैं कि यदि ये दलित आगे बढ़ते रहे तो हमारे झूठे इतिहास की पोल खुल जायेगी और दलितों की वीर कथाएं लोग जान जायेगी।

आरक्षण समाप्त तो कर दो लेकिन जाति एवं जातिव्यवस्था को समाप्त कैसे करोगे? अगर तुम्हें आरक्षण चाहिए तो आगे आओ हमारे साथ शौचालय साफ करो, कपड़े धोना शुरू करो, चमड़े के जूते बनाना शुरू करो और सदैव के लिए अपने आपको दलित समुदाय में शामिल करो। तब दलितों की तरह अनुसूचित जाति/जनजाति का प्रमाण पत्र प्राप्त करो। दलितों में ही शादी-विवाह करो तो तुम्हें जरूर मिलेगा। लेकिन ऐसे नहीं किसी सरकारी विभाग में नौकरी करोगे भंगी की धोबी की और मोची की और बने रहोगे ठाकुर साहब और पंडित जी। ये नाटक नहीं चलेगा। वर्तमान समय में भारतीय जनता पार्टी ने आरक्षण को अप्रत्यक्ष तरीके से समाप्त करने का षडयंत्र रचना शुरू कर दिया है। पहले किसी संस्था को आधार बनाकर आरक्षण वर्ग की सीटें निर्धारित होती थी लेकिन आज संस्था नहीं विभाग को इकाई बनाकर आरक्षण दिया जा रहा है। इससे बड़े-बड़े पदों पर आरक्षित सीटें बंटने में नहीं आती है। इसके लिए भी लोग रात-दिन प्रयासरत हैं कि किस प्रकार आरक्षण का बचाया जाय। इसका कारण है कि कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में सब जगह सवर्ण ही स्थापित किये गये हैं इसलिए न्याय मांगने का संकट भी गहरा गया है। लेखक के समय से चली आ रही चाल ने आज भी दलित और

## Periodic Research

पिछड़ों की नींद हराम कर रखी है। तत्कालीन समस्या से लिम्बाले का घबराना जायज है। "आरक्षण की सुविधा बंद होनी वाली है- ऐसी अफवाहें सुनकर मैं घबराता। आरक्षण रद्द करना है तो फिर हमें दलितस्थान मिलना चाहिए। आरक्षण की सुविधाएं हैं इसलिए तो मुझ जैसे लोग पढ़ पा रहे हैं। इस उम्र में जानवरों की रखवाली करना और माँ-बाप की जिम्मेदारियों में हाथ बंटाना जरूरी होता है। पर मैं उस समय कालेज में पढ़ रहा था। दादा और संतामाय रात-दिन मेहनत मजदूरी कर रहे थे। किताब के प्रत्येक पन्ने पर उनके श्रय, भूख और आशा को मैं देखता।"<sup>16</sup>

भारतीय समाज में दलितों का कैसा विचित्र जीवन रहा है और कमोवेश आज भी है। आँखे रहते हुए भी अंधे, कान होते हुए भी बहरे, ज्ञान होते हुए भी मुख्य, जुबान होते हुए भी गूंगे, चारों तरफ हार ही हार फिर भी लगता है हम जीत गये। सब अपने लेकिन पराये दिखते हैं। यह स्थिति सिर्फ महाभारत की भाँति ही नजर आती है। "हमारी आँखों पर पट्टी बंधी है, हम भूल-भुलैया में हैं शायद! घृतराष्ट्र और गान्धारी की तरह। कर्ण-कुन्ती की तरह। एकलव्य-अश्वत्थामा की तरह। रणभूमि पर पिता, चाचा, बहन, भाई, माँ है, इसका एहसास भी है, फिर भी हम लड़ रहे हैं। खुद से ही शत्रु समझकर क्योंकि हमारे जीवन के सूत्र नियति के हाथ में हैं। हम पराजित हैं। फिर भी लड़ रहे हैं अगली पराजय के लिए। किसी और के गुलाम न बनें, इसीलिए।"<sup>17</sup>

### निष्कर्ष

अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि लेखक ने जितने सवाल समाज के सामने खड़े किये हैं वे सब इसानियत को स्थापित करने के लिए ही हैं। जब तक समाज में भेदभाव की भावना रहेगी तब तक कैसे समतामूलक समाज का निर्माण होगा? संसार में कोई व्यक्ति जन्म से जाति लेकर पैदा नहीं होता है। सब समाज की विकृत सोच वाले लोगों के द्वारा निर्धारित की जाती हैं। सबसे बड़ा सच है कि इस समाज में मानव के स्थान पर पत्थर, संस्कृति, रूढ़ि, परम्परा एवं ईश्वर प्रेम किया जाता है और इसके बाद भारत को महान बताया जाता है। जब-जब इन कुत्सित परम्पराओं का विरोध होता है तो लोगों को पागल और नास्तिक कहा जाता है। जब लोग विरोध नहीं कर पाते हैं तो भीतर ही भीतर घुटना बाकी रहता है। अधिकारहीन जीवन में सिर्फ घुटन ही शेष रहती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि षरण कुमार लिम्बाले ने अपनी आत्मकथा 'अक्करमासी' में दलित जीवन की त्रासदी को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, संस्कृतिक आदि स्तरों पर बड़ी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है।

### संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ०सं०-33.
2. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ०-34.
3. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ०-35.

E: ISSN No. 2349-9435

4. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-38.
5. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-41.
6. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-46.
7. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-49.
8. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-55.
9. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-60.
10. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-63.
11. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-72.
12. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-74-75.

## Periodic Research

13. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-79.
14. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-87.
15. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-10.
16. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-109.
17. शरण कुमार लिम्बाले-अक्करमाशी (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, 4695-21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0-111.
18. Gudyakosh.org, Navbharattimes 1 march-4, 2010, 01.00 PM IST.
19. Gudyakosh.org, Navbharattimes 1 march-4, 2010, 01.10 PM IST.
20. Gudyakosh.org, Navbharattimes 1 march-4, 2010, 01.00 PM IST.
21. sanjhivirasat.blogspot.in